वीर संवत २४९२, फाल्गुन शुक्ल १२, शुक्रवार
दि. ०४-३-१९६६, ढाल-५, श्लोक-८,९,१०. प्रवचन नं. ४२

अशुचि भावना। पाँच भावना हो गयी। यह अधिकार क्या है ? जिसे आत्मदर्शन, श्रद्धा-ज्ञान हुआ है कि यह आत्मा अनन्त आनन्द के रसस्वरूप आत्मा है-ऐसा भान और श्रद्धा-ज्ञान हुआ है, वह ऐसी बारह भावनाएँ भाता है। समझ में आया ?

१. अनित्य भावना :- मैं तो नित्य आनन्द हूँ। ये शरीर आदि संयोग, ये सब क्षणिक, अनित्य-थोड़े काल रहनेवाले हैं। मेरा और इनका कोई सम्बन्ध नहीं है-ऐसी अनित्य भावना भाने से आत्मा शुद्ध नित्य ध्रुव तरफ सन्मुख होने से शुद्धि की वृद्धि होती है।

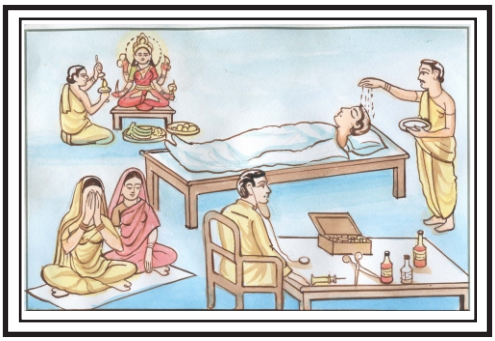

२. अशरण भावना :- मेरा स्वरूप शुद्ध चैतन्य, वही मुझे शरण है; उसके अतिरिक्त कोई शरण (नहीं)। शुभ-अशुभराग भी शरण नहीं; स्त्री-पुत्र, परिवार, देहादि कोई शरण नहीं। इस प्रकार जिसने अन्तर में स्वभाव शुद्ध चैतन्यतत्त्व दृष्टि में, ज्ञान में लिया है, वह बारम्बार ऐसी भावना करता है। कहो, समझ में आया कुछ ?

३. संसार भावना :- तीसरी आ गयी न ? अनन्त बार संसार में भटका, परन्तु कोई इस आत्मा को शरण है नहीं। यह संसार कहा था न ? चार गति में दुःख भरा है-ऐसा जाने। आत्मा के स्वरूप में आनन्द है। देखो ! यह शरीर से सुखी वह सुखी (सब बातें)। पूछते थे न कल ?

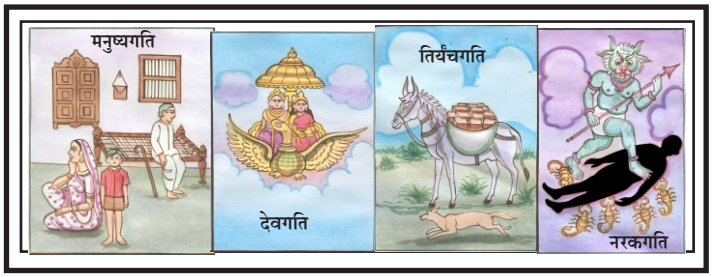

किसने कहा ? कल दो बार बोले, कहा, कोई मूढ जीव ने-आत्मा के शत्रु ने ऐसा लिखा लगता है। 'शरीर से सुखी, हव सुखी सब बातें'। समझ में आया ? आत्मा आनन्दस्वरूप अतीन्द्रिय आनन्द का धाम, वही संसार में सुख का कारण और शरण है। चार गति अकेले दु:ख का ही कारण है। समझ में आया ? नरक की गति हो, मनुष्य की गति हो, स्वर्ग की गति हो, (तिर्चंय की गति हो); चारों ही गति दु:खरूप है। एक आत्मा में ही आनन्द है, अन्यत्र कहीं आनन्द नहीं है। समझ में आया ? फिर कहा -

४. एकत्व भावना :- आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव से एकत्व-अकेला है। एकत्व में कोई परचीज इसकेसाथ सम्बन्ध में नहीं है। आत्मा शुद्ध ज्ञानानन्दमूर्ति,, वही अपने स्वभाव से एकत्व है और पृथक्त्व (अर्थात्) पुण्य-पाप और रागादि, ये आत्मा से पृथक् है-ऐसा ज्ञानी-धर्मी अपने शुद्ध स्वरूप की दृष्टि रखकर ऐसी भावना भाता है। समझ में आया ?

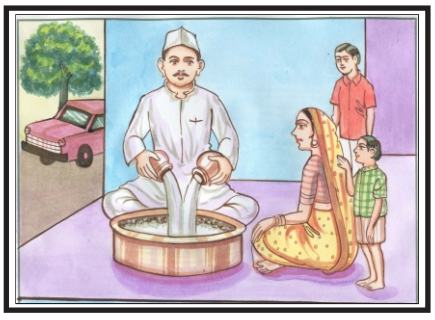

५. अन्यत्व भावना :- जैसे पानी और दूध भिन्न-भिन्न है, दोनों एक नहीं है। इसीतरह शरीर और आत्मा दोनों एक नहीं है; अन्यत्व भिन्न है। दूध, वह दूध है और पानी, वह पानी है। ऐसे ही आत्मा, आनन्दस्वरूप दूध के समान है (और) शरीरादि, यह जड़ पानी के समान है, दोनों अत्यन्त भिन्न चीजें हैं- ऐसी धर्मीजीव को बारम्बार अन्तर में भावना करना।

६. अशुचि भावना :- छठवीं आज आयी है। '**पल, रुधिर राध मल थैली, कीकस बसादि तैं मैली;...**' यह शरीर। यह शरीर कैसा है ? -उसकी भावना की बात करते हैं। शरीर से रहित भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की थैली है। यह आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की थैली है। यह शरीर मल-मूत्र की थैली है। आहा..हा...! शरीर को सुनाते हैं न यह ? किसे सुनाते हैं ? आत्मा को सुनाते हैं कि तू ऐसा है और शरीर ऐसा है-यह तू जान। शरीर को-जड़ को कहाँ भान है ? वह तो मिट्टी है-जड़ है।

पल रुधिर राध मल थैली, कीकस वसादितैं मैली;
नव द्वार बहैं घिनकारी, अस देह करे किम यारी॥८॥

पहले ही आया, यह तुमने लिखा है इसका।

अन्वयार्थ :- यह शरीर '**मांस, रक्त, पीव और विष्ठा की थैली है।**' और यह एक ऐसा संचा है कि चाहे जो चीज इसमें डालो कि विष्ठा उत्पन्न करावे-ऐसा यह संचा है। दुनिया में ऐसा दूसरा कोई संचा नहीं होगा। ठीक है ? चार शेर घी पिलाया हुआ मैसूर खाये, आठ घण्टे में विष्ठा हो-ऐसा यह एक संचा है। दूसरे में एकदम विष्ठा नहीं हो जाती। ऐसा यह शरीर '**मांस, रक्त, पीव और विष्ठा की थैली है।**'

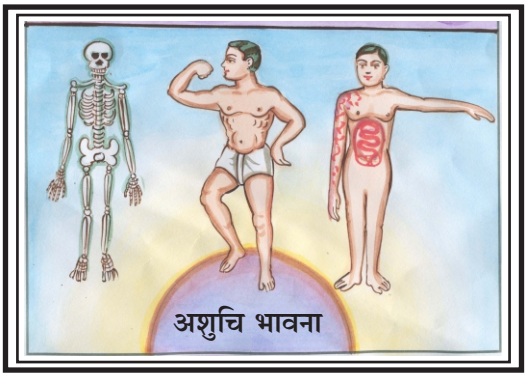

देखो ! यह चित्र दिया है न पहले ! देखो ! यह हड्डियाँ, अकेली हड्डियाँ, शरीर में अकेली यह हड्डियाँ देखो ! फिर ऊपर यह सब चरबी है। ऊपर चरबी भरी हुई है। अन्दर अकेली हड्डियाँ। पृथक् हड्डियाँ, उनमें चरबी के, मांस के पिण्ड भरे हैं। इसमें देखो ! अन्दर सब बताया है, कुछ अन्तड़िया और ऐसी अन्तड़िया और यह सब। भगवान आत्मा इस शरीर से अत्यन्त भिन्न अरूपी चैतन्य स्फटिकरत्न, यह चैतन्य स्फटिकरत्न अत्यन्त निराला है। कहो, समझ में आया कुछ ?

माँस, रक्त, पीव, यह विष्ठा की थैली और विष्ठा को उत्पन्न करनेवाला संचा। इसके लिये दुर्लभ कहा है ? कहते हैं कि यह धर्म समझने का यह निमित्तरूप कारण है। अब धर्म समझ तो इसे दुर्लभ कहा जाता है। (श्रीमद्जीने) नहीं कहा ?'तो भी अरे भवचक्र का फेरा नहीं एक ही टला'-यह दुर्लभ कहा। ऐसा मनुष्यपना मिला और भव के चक्र का फेरा न मिटे तो तूने क्या किया ? समझ में आया ? कुछ आया अवश्य था.. कोई हिन्दी था, कोई घोड़ागाड़ी में आया था। कहो, इसमें समझ में आया ? अभी तो हिन्दी प्रतिदिन आते हैं।

हड्डियाँ देखो ! यह हड्डियाँ। अकेली हड्डियोँ का ढाँचा। यह चरबी निकाल दो तो अकेली हड्डियोँ का ढाँचा। ऐसे देखो, थूकने को खड़ा न रहे-ऐसा यह दिखाया है। देखो ! छिद्र, हड्डियों के छिद्र यह।

'**हड्डी (वसादितैं) चरबी**...' यह चरबी भरी है, ऊपर यह सब, यह चरबी है ऊपर, यह सब। अन्दर हड्डियाँ, यह चरबी और एक चमड़ी गन्ने के ऊपर की छाल जितनी यह चमड़ी ऊपर लपेटी गार की है। गार कहते हैं न ? वह लपेटी है। एक मक्खी के पैर जितनी पतली, पैर नहीं पंख। यह निकाल तो दो (कोई) थूकने को खड़ा न रहे-ऐसा यह शरीर है। अब, इस शरीर से सुखी तो सुखी सब बातें... मूढ है। मूढ है या नहीं ?

मुमुक्षु :- तो फिर सुखी किस प्रकार होता है ?

उत्तर :- सुखी तो आत्मा से सुखी, वह सुखी सब बातें-यह आयेगा। संवर (भावना) में आयेगा। देखो ! समझ में आया ? ओ..हो..! जिसकी नजर करते ही निहाल हो जाए-ऐसी निधि आत्मा, उसकी कींमत नहीं होती। जिसे याद करने से, जिसके स्मरण में स्वभाव याद आने पर स्वभाव की शान्ति प्राप्त होवे-ऐसा आत्मा है। ओ..हो..हो... ! उसमें अनन्त शान्ति पड़ी है, अनन्त आनन्द पड़ा है, यह अकेले आनन्द की ही खान है। जिसे याद करने मात्र से विकार भूलकर स्वभाव याद आवे-ऐसी शान्ति का स्थल, उसे भूलकर इस देह को सुख का कारण (मानता है)। मूढ के गाँव कोई दूसरे बसते होंगे ?

मुमुक्षु :- नग्नपना वह अर्थात्...

उत्तर :- नग्न बाहर से या अन्दर से ?

मुमुक्षु :- आ जाएगा..

उत्तर :- आ जाएगा अपने आप। वही कहते हैं कि अन्दर के आनन्दकन्द के अनुभव की दृष्टि बिना, तेरे शरीर की अशुचिता का ज्ञान करानेवाला, जाने बिना अशुचि है-ऐसा जानेगा कौन ? अकेला नग्न होकर मर गया अनन्तबार। समझ में आया ? यह आयेगा। इसके बाद आस्रवभावना में यह बात आयेगी। शुभ-अशुभभाव अनन्तबार किये, अनन्तबार किये। यह आस्रवभाव है, यह आत्मभाव नहीं। आहा..हा... !

लोहे की खान खोदने की .. साथ में सोने की खान खोदने की नजर करने का भी इसे समय नहीं मिलता। इसीतरह यह माँस, हड्डी, चरबी से भरा हुआ तत्त्व (है)। यदि उन्हें अलग-अलग करो, एक तपेले में डालो इसके हाड़, एक में डालो इसकी आंत, एक में डालो इसका रक्त और एक में डालो इसका माँस, इसमें से (शरीरमें से) अलग करे (डालो), भाई ! और एक में यह ऊपर की उतरी हुई चमड़ी डालो.. आहा..हा... !

भगवान आत्मा ! एक ओर ऐसी नजर करे तो शान्ति, दूसरी ओर नजर करे तो आनन्द, तीसरी ओर नजर करे तो अनन्त बेहद वीर्य-ऐसा भगवान जिसके आत्मा में अपना स्वभाव है... समझ में आया ? ऐसा शुचि-पवित्रस्वरूप है। यह (शरीर) अशुचि है, यह अशुचि है, भगवान शुचि है। आता है न ७२ गाथा में ? 'समयसार' ७२ गाथा। अशुचि, जड़ और दुःखकारी, भगवान शुचि, सुखकारी और चेतन। आहा..हा..! ऐसा परन्तु ऐसा और ऐसी लगनी को लगन लगा दी और मानो कि यह देह ही मैं हूँ और मानों इसमें भिन्न तो कोई मैं हूँ ही नहीं; इसे ठीक तो मुझे ठीक.. दुश्मन को ठीक तो मुझे ठीक... यह नग्न तो आत्मा को लाभ।

वह मूढ नहीं कहता था ? वह राजा नहीं ? वह 'रतलाम' का। कुर्सी में कौन बैठे ? भगवान आत्मा अन्दर अरूपी है, अपने असंख्य प्रदेश में विराजमान है, वह किसी कुर्सी या शरीर के परमाणुओं का भी स्पर्श नहीं करता। आहा..हा... ! 'रतलाम' के दरबार को बुखार आये तो उसे ऐसा नहीं कहा जाता कि साहेब ! आपको बुखार आया है। आपके दुश्मन को बुखार आया है, वैद्य को बुलायेंगे ? सुना था न ? पहले कहा था। 'रतलाम', अभी तो छोटा राजा है, दस लाख.. दस लाख की आमदनी.. एकदम साधारण.. परन्तु वह ऐसे मान में चढ़ा है

कि उसे बुखार आवे (तो) डॉक्टर, दूसरे दीवान ऐसे नहीं कहते कि साहेब ! आपको बुखार आया है तो वैद्य को बुलायेंगे ? आपके दुश्मन को बुखार आया है तो वैद्य को बुलायेंगे ? आहा..हा.. ! बात उसकी सत्य है, परन्तु उसे वह पता नहीं है। यह चैतन्य और वह जड़ शरीर- दोनों शत्रु मित्र है। दोनों परस्पर भिन्न-भिन्न है।

यह चैतन्य और यह अचेतन, यह आनन्द और वह दु:ख का निमित्त। हड्डी, माँस से भरा हुआ (शरीर), भगवान अनन्त शान्ति से भरा हुआ, अत्यन्त विरुद्ध दो बात है। आहा..हा... ! परन्तु कौन भावना भाये ? जो शुचिस्वरूप भगवान पवित्र धाम आत्मा और चैतन्यमूर्ति और आनन्द का धाम-ऐसा जिसे अन्तर में, रुचि में, दृष्टि में, पोषाण में अन्दर जचा है.. समझ में आया ? जब-जब विकल्प से विचार करे, अहो.. ! यह आत्मा शुद्ध ज्ञानघन आनन्दस्वरूप अनन्त-अनन्त बेहत चैतन्यस्वभाव के अविनाभावी गुणों से भरा हुआ तत्त्व है। ऐसे तत्त्व में शुचिपना ही भरा हुआ है। इस तत्त्व (शरीर) में अकेली अशुचिता भरी हुई है। आहा..हा... ! कहो, समझ में आया ?

'**हड्डी (वसादितै) चरबी इत्यादि से अपवित्र है और जिसमें घृणा-ग्लानि उत्पन्न करनेवाले नौ दरवाजे...**' नौ दरवाजोंमें से मैल झरता है। भगवान के असंख्य प्रदेशोंमें से आनन्द झरे-ऐसा आत्मा है। असंख्य प्रदेश का धाम, अनन्त गुण का स्थान, असंख्य प्रदेश में शान्ति.. शान्ति.. शान्ति.. शान्ति.. शान्ति.. के झरने झरे-ऐसा यह आत्मा और यह (शरीर) नव द्वारों से मैल झरे (-ऐसा), समझ में आया ? दो आंखे है न ? दो कान, नाक, एक नाक के दो छिद्र, एक मुँह और पेशाब या मल यह छिद्र-ऐसे नौ छिद्रों से मैल झरता है। भगवान आत्मा असंख्य प्रदेशी प्रभु, जिसके एक-एक प्रदेश में अनन्त-अनन्त अपरिमित अचिन्त्य अपरिमित शान्ति से भरपूर तत्त्व है । जिसकी नज़र करने से, जिसकी नज़र करते निहाल होवे। समझ में आया ? यह नज़र नहीं होती.. आहा..हा... ! ऐसी चीज को न देखकर उसकी भावना न करके, यह अकेला शरीर मेरा, उसे (अपना) करता है। (वह) मूढ है। यह अशुचि भावना करने में शरीर के प्रति द्वेष नहीं है। समझ में आया ? द्वेष के लिये नहीं; ज्ञान करने के लिये है कि मैं आत्मा आनन्द से भरपूर सत् पदार्थ हूँ। समझ में आया ? शरीर में '**नौं दरवाजे बहते हैं..**' समझ में आया ?

'ऐसे शरीर में प्रेम-राग कैसे किया जा सकता है ?' अरे..! यारी कैसे करता है ? देखो ! यह ग्रन्थकार कहते हैं, भाई ! यह शरीर मिट्टी का पिण्ड, वसा या चरबी का घर (है), उसमें तुझे प्रीति कैसे होती है ? कहो, भाई ! है इसमें ? लिखा है ? अरे..! भगवान आत्मा तू.. तेरे घर की बात करते केवली पूरी न कहे-ऐसी तेरी चीज और उसका तुझे प्रेम नहीं और इस धूल का प्रेम है, भाई ! तुझे किस रास्ते जाना है ? कुछ समझ में आया ? जहाँ बिच्छु और सर्प जहाँ पड़े हैं, उस रास्ते जाकर डंक खाना है तुझे ? क्या करना है ? आहा..हा...!

भगवान आत्मा, जिसमें एकाग्र होने में किसी का आधार-शरण आवश्यक नहीं; शरीर निरोगी हो, मन ठीक हो, वाणी ठीक हो, शरीर ऐसे बैठा हो-उसे किसी की आवश्यकता नहीं है। ऐसा भगवान आत्मा, उसकी श्रद्धा के ज्ञान की भावना न करके, कहते हैं, अकेले शरीर में प्रेम करके पड़ा है, भाई ! वह प्रीति छोड़। क्यों प्रीति करता है ? ऐसा है न ?

भावार्थ :- 'यह शरीर तो माँस, रक्त, पीव, विष्ठा आदि की थैली है...' आहा..हा...! मानों माँस के टूकड़े दें, बटका भर ले, उसमें से क्या करे ? चूसे ? आहा..हा...! भाई ! यह तो हड्डी, माँस, विष्ठा चूसने जैसा है, कहते हैं। **'अपवित्र है तथा नौं द्वारों से मैल बाहर निकालता है-ऐसे शरीर के प्रति मोह-राग कैसे किया जा सकता है ?'** भाई ! उसकी रुचि कैसे की जा सकती है ? समझ में आया ? और रुचि किये पीछे आसक्ति भी कैसे की जा सकती है ? समझ में आया ?

'यह शरीर ऊपर से तो मक्खी के पंख समान चमड़ी से मढ़ा हुआ है।' अकेली चमड़ी से शरीर को खड़ा रखे। ऐसा सुन्दर लगे... समझ में आया ? सोने के पत्ते नहीं आते ? क्या कहलाते हैं ? वर्क.. वर्क। हड्डिया खड़ी रखकर सोने का वर्क लगाया हो। यह थैली, हड्डियाँ निकालकर डाले हौं और उस पर सोने का वर्क लगाया हो, समझ में आया ? ऐसे यह सोने का वर्क और चमड़ी लगाई है अन्दर में। अन्दर में तो अकेली हड्डियाँ, चमड़ी है, भाई ! अन्दर भगवान आत्मा अखण्ड आनन्द का कन्द शुद्ध चैतन्यमूर्ति है, उसकी दृष्टि करके उसकी भावना कर। इसमें है कुछ ? धूल भी नहीं कुछ। आहा..हा..! तो क्या होगा उसमें ? भाई ! आठ-आठ महिने तक ऐसे पैर टाँग कर नहीं पड़े थे ? धूल में भी सुख नहीं था। पैर टूटा तब आठ महिने

ऐसे (रहे थे), धूल में भी सुख नहीं है। आहा..हा... !

'उसकी भीतर की हालत का विचार किया जाये तो उसमें अपवित्र वस्तुयें भरी हैं; इसलिये उसमें ममत्व, अहंकार या राग करना व्यर्थ है।' काम तेरा कुछ सरे-ऐसा नहीं है, बापू ! आहा..हा.. ! ऐसा एक भगवान तू, तेरी बात करते नजराना मिले, आहा..हा... ! समझ में आया ? उसकी प्रीति से बात सुनने से भी निहाल हो-ऐसी यह चीज है। इसकी लगाई। यह शरीर अच्छा नहीं, हाँ ! इस शरीर के दु:ख से दु:खी, हाँ ! और शरीर के सुख से सुखी.. मूढ.. कितनी मूढता रगड.. रगड.. रगड.. रगड.. (करनी है) ? अब उसके फलरूप से वापस इससे अनन्तगुने दु:खो में अवतार (लेगा)। फिर अनन्तगुने दु:खों में (जाएगा)। वे नरक के दु:ख भगवान जाने और वह भोगे।

ऐसी चार गतियों के दु:ख इसने भोगे हैं। पता नहीं है पता। वर्तमान देखा वहाँ हो गया.. इसे सुविधा और मुझे नहीं; इसे पैसा और मुझे नहीं; (इसे) निरोगता कूदता है, लोही से कूदे सांदडा जैसा और मेरा तो पैर भी ऊँचा नहीं होता। (एक मुमुक्षु कहता था)-यह सब निरोगी, पापी है और हम यह नहीं तो भी.. आहा..हा... ! विपरीत दृष्टि, अब किसे अच्छा कहना ? शरीर.. वहाँ से एकाकार होकर जायेगा नरक में, जाएगा निगोद में, कहीं वापस मनुष्य का पता अनन्तकाल में नहीं लगेगा। किसकी महिमा करता है तू ? है ?

मुमुक्षु :- ..

उत्तर :- हाँ, अरे..! हिरण को मारकर ऐसे उछले अंग्रेज। हमारे वहाँ है न ? 'चमारगाम'। हिरण को मारक उछलकर पड़ा वह। अपने वे... होते हैं न ? यह ऐसा हाथ डालकर, ऐसे हाथ डालकर पेन्ट में हाथ डालकर ऐसे उछला। 'चमारगाम' नाम है, अभी 'नबीरपुर' कर दिया है। 'पालेज' के पास है। आहा..हा... ! नरक का नमूना तो यहाँ से दिखता है या नहीं ? नमूना लेकर जाए नरक में। धर्म का नमूना यहाँ से शान्ति का वेदन करते हुए मोक्ष में चला जाए। वह नमूना लेकर जाता है। यो हीं मुफ्त में जाता है कोई ? समझ में आया ? आहा..हा.. !

'यहाँ शरीर को मलिन बतलाने का आशय भेदज्ञान द्वारा शरीर के स्वरूप का ज्ञान

कराके...' भिन्न बतलाना है। अशुचि करके द्वेष नहीं करना है। वह तो स्वतन्त्र पदार्थ जगत की चीज है। जगत के परमाणु यहाँ आकर... वे कोई आत्मा के नहीं है और आत्मा के कारण आये भी नहीं है। आत्मा के कारण आये भी नहीं है। वे उनकी योग्यता के कारण यह क्षेत्रांतर पर्याय पाकर परिणमित हो रहे हैं। समझ में आया ? आहा..!

'परन्तु शरीर के प्रति द्वेषभाव कराने का आशय नहीं है। शरीर तो उसके अपने स्वभाव से ही अशुचिमय है और यह भगवान आत्मा निजस्वभाव से ही शुद्ध एवं सदा शुचिमय पवित्र चैतन्य पदार्थ है। इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव...' सच्ची दृष्टि जीव, पहली मिथ्यादृष्टि है। शरीर से ठीक, वह ठीक-यह मिथ्यादृष्टि है। सच्ची दृष्टि जीव-भगवान आत्मा, राग और शरीर से निराला है-ऐसी जिसकी दृष्टि है-ऐसा धर्मी **'अपने शुद्ध आत्मा की सन्मुखता द्वारा..'** स्वभाव की सन्मुखता द्वारा **'अपनी पर्याय में शुचिता की (पवित्रता की) वृद्धि करता है, वह अशुचि भावना है।'**

अब आस्रव भावना। देखो !

७-आस्रव भावना

जो योगन की चपलाई ह्वै आस्रव भाई;
आस्रव दुखकार घनेरे, बुधिवन्त तिन्हें निरवेरे ॥९॥

अन्वयार्थ :- (भाई) हे भव्य जीव ! (योगन की) योगों की (जो) जो (चपलाई) चपलता है (तातै) उससे (आस्रव) आस्रव (ह्वै) होता है, और (आस्रव) वह आस्रव (घनेरे) अत्यन्त (दु:खकार) दु:खदायक है, इसलिये (बुधिवन्त) बुद्धिवान (तिन्हें) उसे (निरवेरे) दूर करें।

भावार्थ :- विकारी शुभाशुभभावरूप जो अरूपी दशा जीव में होती है, वह भाव आस्रव है; और उस समय नविनी कर्मयोग्य रजकणों का स्वयं-स्वत: आना (आत्मा के साथ एक क्षेत्र में आगमन होना) सो द्रव्य आस्रव है। (उसमें जीव की अशुद्ध पर्यायें

निमित्तमात्र हैं)।

पुण्य और पाप दोनों आस्रव और बन्ध के भेद हैं।

पुण्य:- दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत आदि शुभराग सरागी जीव को होते हैं, वे अरूपी शुभभाव हैं, और वह भावपुण्य है। तथा उस समय नवीन कर्मयोग्य रजकणों का स्वयं-स्वत: आना (आत्मा के साथ एक क्षेत्र में आगमन होना) सो द्रव्यपुण्य है। उसमें जीव की अशुद्ध पर्याय निमित्तमात्र है।

पाप :- हिंसा, असत्य, चोरी इत्यादि जो अशुभभाव हैं, वह भावपाप है, और उस समय कर्मयोगय् पुद्गलोंका आगमन होना सो द्रव्यपाप है। (उसमें जीवकी अशुद्ध पर्यायें निमित्त हैं।)

परमार्थसे (वास्तवमें) पुण्य-पाप (शुभाशुभ) आत्माको अहितकर है, तथा वह आत्मा की क्षणिक अशुद्ध अवस्था है। द्रव्यपुण्य-पाप तो परवस्तु हैं वे कही आत्मा का हित-अहित नहीं कर सकते-ऐसा यथार्थ निर्णय प्रत्येक ज्ञानी जीव को होता है; और इसप्रकार विचार करके सम्यग्दृष्टि जीव स्वद्रव्य के अवलम्बन के बल से जितने अंश में आस्रवभाव को दूर करता है, उतने अंश में उसे वीतरागता की वृद्धि होती है-उसे 'आस्रव भावना' कहते हैं ॥९॥

जो योगन की चपलाई तातैं ह्वै आस्रव भाई;
आस्रव दुखकार घनेरे, बुधिवन्त तिन्हें निरवेरे॥९॥

देखो ! यह एक विशेषण दिया।

अन्वयार्थ :- 'हे भव्य जीव ! (योगन की चपलाई)...' इस आत्मा के प्रदेशों का कम्पन, वह नये आवरण आने का कारण है। उसमें जितने प्रमाण में कषाय के परिणाम (होते हैं); कम्पन है; वह तो परमाणु आने का कारण और उस कम्पन में जितने प्रमाण में शुभ-अशुभभाव की कषाय है, इस नये आस्रव का मूल कारण वह है, मूल कारण वह है। कम्पन है, वह परमाणुओं के आने का निमित्त है और उसमें जितना यहाँ कषायभाव है, उतने परमाणु में स्थिति और रस (-अनुभाग) पड़ता है। समझ में आया जैसे, नाव में छिद्र हो और पानी भरे,

वैसे आत्मा में जितने प्रमाण में शुभ-अशुभभाव का मैल-छिद्र पड़ा, उतने नये आवरण आते हैं। समझ में आया ?

'**(योगों की) जो चंचलता है, उससे आस्रव होता है...**' आस्रव अर्थात् एक तो परिणाम में स्वयं भाव आस्रव और नये रजकण आये, वह द्रव्य आस्रव। समझ में आया ? शुभ और अशुभ कषाय के भाव, वे भाव-आस्रव, भाव मलिन आस्रव (है), वे स्वरूप में नहीं और प्रगट हुए तथा उनके कारण नये रजकण आये, उनमें स्थिति रस आदि पड़े, वह द्रव्य-आस्रव है। समझ में आया ?

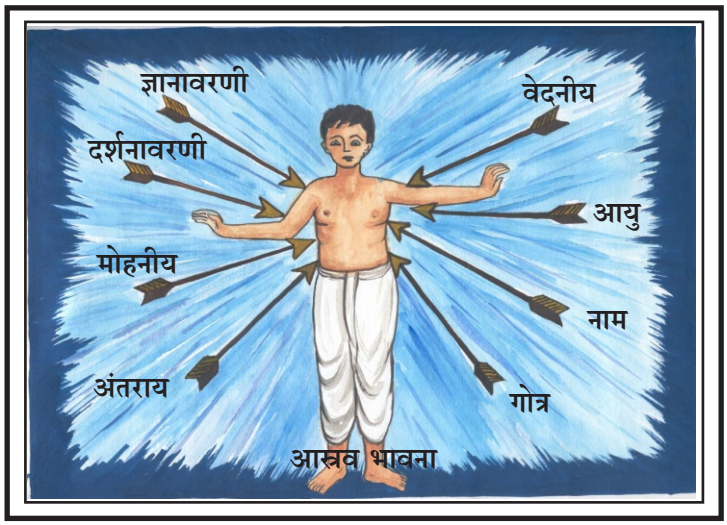

'**आस्रव होता है और वह आस्रव अत्यन्त दुःखदायक है...**' देखो ! ये शुभ और अशुभभाव दुःख के करनेवाले हैं। दोनों, दोनों कहा न ? देखो न ! शुभ और अशुभभाव.. भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप से विपरीत पुण्य-पाप के भाव, दोनों विकार-आस्रव यह प्रत्यक्ष वर्तमान दुःखरूप है और उसका बन्धन-रजकण, वे भी भविष्य में दुःख का निमित्त है। समझ में आया ? इसलिए '**(बुद्धिवंत) बुद्धिमान...**' मूढ का क्या कहना-ऐसा कहते हैं, भाई ! तेरा संसार में भटकने का अन्त लाना हो.. समझ में आया ? और मोक्ष की ओर तुझे आना हो (तो उसके लिये यह बात है)। ये शुभ-अशुभभाव दुःखदायक है। इनसे रहित भगवान शान्ति का कारण है।

'**इसलिए बुद्धिमान उसे दूर करे।**' शुभ-अशुभभाव को रोके, शुभ-अशुभभाव को रोके। किस प्रकार ? अपने शुद्धस्वभाव का आश्रय लेकर इन भावों को रोके। समझ में आया ?

महान पदार्थ प्रभु ! सिद्ध का पिण्ड प्रभु आत्मा का आश्रय लेकर शुभ-अशुभभाव को रोके, दु:खदायक को रोके। कहो, कुछ समझ में आता है ? ए.. देवानुप्रिया ! इस शुभभाव को दु:ख का कारण कहा। नग्नपना-फग्नपना कहाँ गया ? यह तो पहले कहा था, उसके सामने यह (कहा)। नग्न हो जाओ अब.. क्या नग्न (हो) ? नग्न ही है सब, कौन नहीं ? शरीर की अवस्था नग्न कौन करे ? समझ में आया ? भगवान आत्मा इस शुभ-अशुभवृत्ति के वस्त्र रहित है। शुभ और अशुभराग की वृत्तिरहित भगवान है। ऐसे आत्मा की दृष्टि कर और ऐसे शुभाशुभभाव को रोक। समझ में आया ? '**निरवेरे**' अर्थात् रोके ऐसा।

भावार्थ :- 'विकारी शुभाशुभभावरूप जो अरूपीदशा जीव में होती है...' वह जीव में होती है। दया, दान, व्रत का शुभभाव; हिंसा, जूठ का अशुभभाव, वह आत्मा की अवस्था में होता है। '**उसे भाव आस्रव कहते हैं...**' वह भाव आस्रव, वास्तव में तो वही आस्रव है। '**और उससमय नवीन कर्मयोग्य रजकणों का स्वयं स्वत:..**' स्वयं स्वत: कर्म का एक क्षेत्र में आना होता है, '**वह द्रव्य-आस्रव है।**' रजकण आते हैं, वह (द्रव्यास्रव है)। '**(और उसमें जीव की अशुद्ध पर्याय निमित्तमात्र है।)** ' शुभाशुभभाव (निमित्तमात्र है)। नये रजकणों का उनके उपादान के कारण आना और शुभाशुभभाव का उसमें निमित्तकारण होना। यह शुभाशुभभाव ही आत्मा को दु:खदायक है।

'**पुण्य-पाप दोनों आस्रव और बन्ध के भेद हैं।**' समझ में आया ? '**योगन की चपलाई**' कहा न ? दोनों को रोको। शुभ-अशुभभाव अब इसमें ऐसी स्पष्ट बात तो लिखी है, फिर भी वह कहते हैं कि नहीं। ऐ..ई..! यह छहढाला का अर्थ 'सोनगढ़' ने किया है, उसमें नहीं, अमुक नहीं (-ऐसा कोई कहते हैं)। परन्तु यह क्या कहते हैं वह ? '**बुद्धिवंत तिन्हैं निरवेरे, आस्रव दुखकार घनेरे, बुद्धिवंत तिन्हैं निरवेरे।**' शुभ-अशुभभाव तो आस्रव है।

मुमुक्षु :- परम्परा...

उत्तर :- किसमें परम्परा ? धूल में ? परम्परा अर्थात् वर्तमान में नहीं, परन्तु भविष्य में इन्हें मिटायेगा, तब होगा-ऐसा परम्परा (का अर्थ है)। समझ में आया ? यह ऐसा कहते हैं। पाप के आस्रव परिणाम से परम्परा धर्म होता होगा ? आस्रव परिणाम परम्परा से अनर्थ का

कारण है–ऐसा 'कुन्दकुन्दाचार्य' ने 'बारह अनुप्रेक्षा'में तो लिखा है। विकार, विकार, वह विकार अर्थ का कारण होगा ? विकार अनर्थ का कारण है, लो ! समझ में आया ? शुभ-अशुभभाव दोनों अनर्थ का कारण है। बन्ध का कारण है। पुण्य और पाप दोनों (बन्ध का कारण है)। पुण्य सोने की बेड़ी, पाप लोहे की बेड़ी–लिखा है, हाँ ! उसमें, (समयसार) पुण्य-पाप अधिकार में (आता है न) ? उन्होंने लिखा है, इन्होंने भी लिखा है, उसमें उन्होंने लिखा, हाँ ! बुध पुरुषों ने पुण्य-पाप कार्यों को नहीं किया; आत्मा के अनुभव में चित्त लगाया। क्यों ? देखो ! शास्त्रकारों ने पाप को लोहे की बेड़ी, पुण्य को सोने की बेड़ी कहा है। –लिखा है, भाई ! इसमें है, दसवें श्लोक में है।

मुमुक्षु :- अन्तर (भेद) नहीं डाला ?

उत्तर :- क्या अन्तर पड़ा ? लोके का भाव बढ़ा, यहाँ तो कहते हैं, भाई ! यह भगवान आत्मा हलका और शुद्ध चिदानन्दमूर्ति है। उसमें जितने प्रमाण में शुभ और अशुभभाव हो, वह सब दु:खदायक और विकारी है। लाख बात की बात निश्चय एक, निश्चय उर आनो। इस बिना तेरा (भ्रमण का) अन्त तीन काल में नहीं आनेवाला है। समझ में आया ?

'पुण्य-दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत इत्यादि शुभभाव सरागी जीव को होते हैं, वे अरूपी अशुद्धभाव हैं... ' अविकारी दशा से उलटी अवस्था है, **'और वे भाव-पुण्य हैं तथा उस समय नवीन कर्मयोग्य रजकणों का स्वयं-स्वत: आना (आत्मा के साथ एक क्षेत्र में आगमन होना), वह द्रव्य-पुण्य है। (उसमें जीव की अशुद्धपर्याय निमित्तमात्र है)।'** दोनों चीजे स्वतन्त्र हैं। आत्मा, शुभ-अशुभभाव करे, वह अशुद्ध परिणाम है, वह आस्रवभाव है। नवीन रजकणों को निमित्तमात्र कहलाते हैं।

इस प्रकार धर्मीजीव आस्रव की भावना, चिन्तवन बारम्बार करके शुद्ध आत्मा के सन्मुख का लक्ष्य रखकर शुद्धि बढ़ाता है। कहो, समझ में आया कुछ ? अरे..! जब हो, तब इसने बहाना ही ढूँढा है, छिटकने का बहाना–यहाँ से होगा, शुभभाव आया तो यह है। अब शुभभाव अनन्तबार किया, सुन न ! नौंवी ग्रैवेयक गया–शुभ के बिना गया होगा ? शुक्ललेश्या कैसी थी ? अनन्तबार नौंवी ग्रैवेयक गया, अनन्तबार दिगम्बर जैन साधु होकर नौंवी ग्रैवेयक गया।

समझ में आया ? शुभभाव, वह पुण्य है, आंशिक (भी) संवर-निर्जरा, धर्म-बर्म तीनका-तीनलोक में नहीं। भगवान वीतराग के मार्ग में उसे संवर नहीं कहते, शुभभाव को संवर नहीं (कहते)। समझ में आया ? यह तो पहले हमारे बहुत चर्चा चलती (थी)। 'ध्रांगध्रा' में (अमुक भाई) थे न ? कहाँ गये ? वे नहीं, भाई ? शुभभाव, वह संवर है-वह 'प्रश्न व्याकरण' में आता है। (संवत) १९७६ की साल में पहले गये तब (चर्चा) चलती थी। १९७६. 'प्रश्न व्याकरण' में ऐसा भाव आता है। शुभभाव संवर.. शुभभाव संवर.. शुभभाव संवर.. भाई ! शुभभाव संवर नहीं होता। समझ में आया ? (वे लोग) बहुत चर्चा (करते थे)।

(यहाँ पर) कहते हैं-'**पाप, हिंसा, असत्य, चोरी इत्यादि जो अशुभभाव हैं, वे भावपाप हैं और उस समय कर्मयोग्य पुद्गलों का आगमन होना...**' (नये कर्म आते हैं), '**वह द्रव्य-पाप है।**' रजकण। '**(उनमें जीव की)...**' भावपाप परिणाम, वे निमित्त हैं।

'**परमार्थ से (वास्तव में) पुण्य-पाप (शुभाशुभ) आत्मा को अहितकर है...**' लिखा है, देखो न ! '**आस्रव दुखकार घनेरे, बुद्धिवंत तिन्हैं निरवेरे.. जो जोगन की चपलाई, तातैं हैं आस्रव भाई।**' इससे आस्रव है, भाई, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? हे भाई ! वह आस्रव है, ऐसा कहते हैं। '**आस्रव दुखकार घनेरे...**' यह आस्रव दु:खकार घनेरे। शास्त्र में दोनों दु:ख परिणाम, दु:ख का कारण कहा है। '**बुद्धिवंत तिन्हैं निरवेरे।**' समझदार-आत्मा के ज्ञाता, इन शुभाशुभभावों को रोकते हैं और आत्मा के सन्मुख होते हैं, उन्हें संवर होता है। समझ में आया ?

'**तथा आत्मा की क्षणिक अशुद्ध अवस्था है।**' शुभ-अशुभभाव। आत्मा त्रिकाल आनन्दमूर्ति है। शुभाशुभभाव उसकी अशुद्ध अवस्था है। समझ में आया ? '**द्रव्य पुण्य-पाप तो परवस्तु है, वे कहीं आत्मा का हित-अहित नहीं कर सकते।**' -जड़कर्म कोई हित-अहित नहीं करता। '**ऐसा यथार्थ निर्णय प्रत्येक ज्ञानी जीव को होता है; और इस प्रकार विचार करके सम्यग्दृष्टि जीव स्वद्रव्य के अवलम्बन के बल से...**' भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप के अवलम्बन के आश्रय के एकाकार द्वारा '**जितने अंश में आस्रवभाव को दूर करता है, उतने अंश में उसे वीतरागता की वृद्धि होती है...**' शुद्धि की वृद्धि होती है। '**उसे आस्रव भावना कहते हैं।**' लो ! समझ में आया ?

आस्रव करने की भावना करनी ? या आस्रव दूर करने की भावना करनी ? ऐसा कहा यहाँ। पुण्य-पाप के भाव '**बुद्धिवंत तिन्हैं निरवेरे, दुखकार घनेरे**' (हैं), इसलिए-ऐसा कहा। चैतन्य ज्ञानानन्द मूर्ति को अन्तरदृष्टि में लेकर, शुभाशुभभाव दुःखदायक है, (उन्हें) निरवेरे-छोड़े या करे ? भावना भावे आस्रव की कि पुण्य होवे तो ठीक और पुण्य होवे तो ऐसा ठीक न ? समझ में आया ? मिथ्यादृष्टि ऐसा मानता है-पुण्य आस्रव हो तो ठीक। ज्ञानी उसे छोड़ना चाहता है। आहा..हा... ! दो भावना हुई, अब तीसरी।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- कहाँ चढ़ावे ? धूल में ? यह कहते हैं-आत्मा, पुण्य-पाप के भाव रहित एकाग्रता करे, वह ऊँचे चढ़ता है, अन्य नीचे उतरता जाता है। आहा..हा.. ! नीचे अर्थात् चार गति। आत्मा के शुद्ध स्वभाव की गति अन्तर में एकाग्र हो वैसे ऊँचा चढ़ता जाता है। अपने स्वरूप से हटकर आते ही ऐसे नीचे पड़ता जाता है। आहा.. !

८-संवर भावना

जिन पुण्य-पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित दीना;

तिन्ही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके ।।१०।।

अन्वयार्थ :- (जिन) जिन्होंने (पुण्य) शुभभाव और (पाप) अशुभभाव (नहिं कीना) नहीं किये तथा मात्र (आतम) आत्मा के (अनुभव) अनुभव में (शुद्ध उपयोग में) (चित्त) ज्ञान को (दीना) लगाया है (तिन्ही) उन्होंने ही (आवत) आते हुइ (विधि) कर्मों को (रोके) रोका है और (संवर लहि) संवर प्राप्त करके (सुख) सुख का (अवलोके) साक्षात्कार किया है।

भावार्थ :- आस्रव का रोकना, सो संवर है। सम्यग्दर्शनादि द्वारा मिथ्यात्वादि आस्रव रुकते हैं। शुभोपयोग तथा अशुभोपयोग दोनों बन्ध के कारण हैं-ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव पहले से ही जानता है। यद्यपि साधक को निचली भूमिका में शुद्धता के साथ अल्प शुभाशुभभाव होते हैं, किन्तु वह दोनों को बन्ध का कारण मानता है, इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव, स्वद्रव्य के

आलम्बन द्वारा जितने अंश में शुद्धता करता है, उतने अंश में उसे संवर होता है, और वह क्रमशः शुद्धता में वृद्धि करके पूर्ण शुद्धता (संवर) प्राप्त करता है। वह 'संवर भावना' है। ॥१०॥

अब, संवर भावना। देखो ! '**जिन पुण्य-पाप नहि कीना, आतम अनुभव चित दीना।**' लो ! यह तो देशी हिन्दी 'दौलतरामजी' की है। 'दौलतराम' (कृत) 'छहढाला' सादी देशी भाषा है।

जिन पुण्य-पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित दीना;
तिन्ही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके॥१०॥

कितना शब्द रखा है, देखो ! ओ..हो..हो... ! साक्षात् करे संवर को-सुख को ऐसा।

अन्वयार्थ :- '**जिन्होंने शुभभाव और अशुभभाव नहीं किये...**' देखो ! जो सम्यग्दृष्टि आत्मा की शुद्ध पवित्र दृष्टि में शुभ-अशुभभाव करना छोड़कर '**और मात्र आत्मा के अनुभव में...**' देखो ! शुभ और अशुभ दोनो बन्ध के कारण हैं। आत्मसन्मुख दृष्टि, ज्ञान, शुद्ध उपयोग ही मोक्ष का कारण है। '**जिन पुण्य-पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित दीना...**' देखो ! वे पुण्य-पापभाव आत्मा नहीं। है या नहीं इसमें ? बहुत समा दिया है। जिसने भगवान आत्मा (को) इन पुण्य-पाप आस्रव के परिणाम से रहित जाना, देखा, माना है-ऐसे जीव ने पुण्य-पाप को करना छोड़कर आत्मा के अनुभव में चित्त दिया है। जिसने आत्मा की शुद्ध परिणति में चित्त दिया है। फिर परिणति उपयोग होवे तब शुद्धता होती है। समझ में आया ?

'**जिन पुण्य-पाप नहिं कीना...**' उस योग की चपलाई के सामने यह लिया। '**आतम अनुभव चित्त दीना...**' भगवान आत्मा शान्त अनाकुल आनन्दस्वरूप को अनुसर कर अनुभव करना।

अनुभव रत्न चिन्तामणि, अनुभव है रस कूप,
अनुभव मारग मोक्ष का अनुभव मोक्षस्वरूप॥

अरे..! यह बात रूचे नहीं और शुभ-अशुभभाव रूचे, उसका (जन्म-मरण का) अन्त कहाँ से आये ? यहाँ तो जन्म-मरण रहित दशा न हो, उस दशा को दशा ही गिनने में नहीं आती। आहा..हा...! स्वर्ग मिले या नरक मिले या राजा हो या रंक हो, पाँच-पाँच लाख के अश्वघोड़े 'अमेरिका' के हो, बड़े अश्व और बैल होते हैं न ?

मुमुक्षु :- शरक के घोड़े ?

उत्तर :- हाँ, शर्त के घोड़े बड़े, बैल भी बड़े-बड़े लाख-लाख, सवा-सवा लाख के (होते हैं)। समझ में आया ? ये सब चार गति के स्थान दु:खरूप दु:खरूप हैं। शुभ-अशुभभाव करने का भाव जिसने छोड़ा है और भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध ज्ञानानन्द भगवान की जिसने भावना की है.. वह भावना कहो या अनुभव कहो या शुद्ध उपयोग कहो-उसमें जिसने अपना चित्त दिया है, उसने '**आते हुए (विधि) कर्मों को रोका है...**' वह कर्म को रोकता है, देखो ! शुभ-अशुभभाव, वह कर्मों के आने के कारण है और शुभाशुभभाव रहित आत्मा के भाव की शुद्धता की दशा, वह कर्म को रोकने का कारण है। इसमें है या नहीं ?

आत्मा के अनुभव में चित्त रखा है। ओ..हो...! समझ में आया ? शुद्ध स्वरूप अपना निज आनन्द महान परमेश्वरपद स्वयं का (है)। अरे..! स्वयं का परमेश्वरपद भूलकर और पामर-पुण्य-पाप के पामर पद में जिसकी प्रीति है, उसे चार गति में भटकने का फल है। समझ में आया ? अपने परमेश्वरपद को सँभालनेवाला, याद करनेवाला, उसमें चित्त देनेवाला, शुभाशुभभाव को नहीं करता। जितने प्रकार में शुद्धभाव की परिणति करता है, उतने प्रकार में उसे कर्म आते हुए रुक जाते हैं। उसे भगवान, संवर कहते हैं, उसे भगवान, संवर कहते हैं। यह तो हिन्दी भाषा (में) 'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' है।

मुमुक्षु :- ज्ञानी को तो ऐसी ही बात होती है।

उत्तर :- ऐसी ही बात होवे न, दूसरी क्या बात होगी ? आ..हा...! 'दौलतरामजी' कहते हैं तो अपने घर की बात नहीं करते हैं। सर्वज्ञ परमेश्वर परमात्मा ने जो कहा है, (वह) 'छहढाला' में (कहते हैं)। और हिन्दी छहढाला। सादी हिन्दी भाषा है, १३ गाथायें (श्लोक) हैं। समझ में आया ? देखो न ! संवर की व्याख्या यह ! पुण्य और पाप, वे संवर नहीं है, वे

आस्रव है।

मुमुक्षु :- शुभयोग, संवर नहीं ?

उत्तर :- यह शुभयोग, पुण्य कहा न, उसे पुण्य कहा था। आस्रव कहा न। पुण्य कहो या शुभयोग कहो; पुण्यभाव-पुण्य कहो या शुभयोग कहो-दोनों एक ही है। भावपुण्य कहो या शुभयोग कहो, भाव पाप कहो या अशुभयोग कहो। द्रव्य पुण्य-पाप, वह रजकण जड़ की दशा और भाव पुण्य-पाप, वह आत्मा की अशुद्धदशा (है)। यह बात ऊपर आ गयी है-अरूपी अशुद्धभाव। अपना परमेश्वर पद ही अभी सुहावे नहीं, अपना परमेश्वर पद यदि अभी रूचे नहीं, उसे परमेश्वरपद प्राप्त करने का वीर्य कैसे स्फुरित हो ? जिसे पुण्य और पाप के भाव, जो पामरभाव रूचते हैं, उसे आत्म परमेश्वरपद कैसे रूचे ?

इस कारण यहाँ ग्रन्थकार कहते हैं-पण्डित 'दौलतरामजी' हुए, समझे ? कि '**जिन पुण्य-पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित्त दीना..**' यह आत्म-अनुभव किसे होगा ? यह आठवें-नौंवे की बात होगी ? यह तो पहले से बात करते हैं। समझ में आया ? '**तिनही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके...**' देखो, भाषा ! वह धर्मीजीव अपने आत्मा में, अनुभव में चित्त देकर शुभाशुभभाव को रोकता है। वह, '**संवर प्राप्त करके सुख का साक्षात्कार किया है।**' सुख को अवलोकता है। वह अतीन्द्रिय आनन्द को देखता है। क्या कहा ? कि पुण्य-पाप के भाव दुःखरूप है। सामने दुःखकारी कहा था न ? सामने दुःखकारी कहा था न ? नौंवें में 'आस्रव दुखकार' तब संवर आनन्द को अवलोकता है, अर्थात् संवर में आनन्द होता है. उसे संवर कहते हैं। अतीन्द्रिय आनन्द को (अवलोकता है)। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का अवलोकन-उसका साक्षात्कार होना-ऐसी दशा में जो सुख का आनन्द आवे, उस दशा को संवर कहा जाता है। समझ में आया ?

बाहर में इसे दूसरे की अपेक्षा अच्छा कहे न तो प्रसन्न हो जाए। यह पुण्य की अपेक्षा और स्वर्ग की अपेक्षा तू अच्छा है, इसमें प्रसन्न नहीं होता। ऊं..हूं..हूं.. (करता है)। दूसरे की अपेक्षा ऐसा कहे कि हाँ हो, तुं तो बहुत होशियार हो, ओ..हो... ! उसकी अपेक्षा तुम बहुत बुद्धिशाली। (इसे ऐसा लगता है कि) दूसरों की अपेक्षा अधिक तो सिद्ध किया। यहाँ कहते हैं कि... परन्तु

पुण्य-पाप के भाव और शरीर से तू पृथक् अच्छा है, (तो कहता है) नहीं, यह नहीं, भाई साहब ! देखो न भाई ! पिता के पास पैसा नहीं थे, तुमने इतनी उन्नति की, इकट्ठे किये, ऐसा किया, मकान बनाया.. समझे न ? बाहुबल से कमाया, बाहुबल से मकान बनाया, बाहुबल से कीर्ति प्राप्त की, और अब.. चले जाओ, मरकर जाओ अब नीचे। किसका किया ? धूल की तूने ? वहाँ इसे प्रसन्नता होती है, हाँ ! तुमने तो बहुत भाई ! वृक्ष लगाये हैं, आम रोपे हैं, बापा ! तुमने तो ओ..हो..हो... ! ऐसा कहते हैं। वह (एक भाई) कहते, गरासियाओ (दूसरे भाई से कहते), आम रोपे हैं। वह तो व्यक्ति अमीर व्यक्ति थे, परन्तु यह तो लोग... तो (ऐसा कहे), ओ..हो..हो... ! पैसे खर्च किये, यह किया, यह किया, यह किया, आम रोपे, बापा ! आम पकनेवाले अब। अरे.. ! भगवान ! यह प्रसन्न होता है। यहाँ तो कहते हैं कि.. तूने आम रोपे, आत्मा के पवित्रभाव की रूचि और दृष्टि कर, शुभाशुभभाव की रूचि छोड़। तूने आम रोपे वहाँ केवलज्ञान के कन्द के फल पकेंगे। (तो कहे), यह नहीं, यह नहीं।

निमित्त और शुभपरिणाम के बिना चले-ऐसा तेरा तत्त्व है। सुन न ! ऐसा स्वाधीन भगवान, जिसकी नज़र करने से विकार का नाश हो, जिसकी नज़र करने से निहाल दशा प्रगटे; जिसकी नज़र करने से स्वयं परमात्मा है-ऐसा प्रतीति में आये-ऐसा भगवान आत्मा, वह तुझे रूचता नहीं। यहाँ संवर अधिकार है, साक्षात्कार कर-ऐसा कहते हैं। आहा..हा... ! समझ में आया ? भाई ! सेठ ने बहुत किया होगा। संवर बहुत किया है, कहते हैं। भाई ! ऐसा कहते हैं, अभी तक संवर बहुत किया। वह संवर धूल में भी संवर नहीं था। मिथ्यात्वभाव था और मानता कि हमने संवर किया। ऐ.. भाई ! इस भाई ने बहुत सामायिक की थी। आहा..हा... !

भाई ! प्रभु को एक ओर रखकर तू बाते करे; यह प्रभु स्वयं बिराजता हो और उसके दुश्मन हो, उनके साथ मेल करे, यह प्रभु किस प्रकार प्रसन्न होगा ? समझ में आया ? आहा..हा... ! भगवान परमेश्वर बिराजमान है न ! आनन्दकन्दवाला तेरा (स्वरूप), उसके सन्मुख न देखकर अकेले विकार के साथ प्रेम करके पड़ा है, (तो) यह प्रभु प्रसन्न होकर किस प्रकार प्रगट होगा ? समझ में आया ?

यहाँ तो अद्भूत भाषा रखी है ! सख को अवलोके। भाषा अलग है, देखा ? वह दु:ख को अवलोकता था-शुभ-अशुभभाव, वह दु:ख को अवलोकता था। वह, दु:ख है-ऐसा जानता

नहीं था, परन्तु दु:ख पर उसकी नज़र थी। अज्ञानी की अनादि से शुभ और अशुभभाव में-दु:ख में नज़र थी। यह आत्मा दु:ख और आस्रवरहित वस्तु है-ऐसी जहाँ नज़र करने पर उस संवरभाव में आत्मा आनन्दरूप से अवलोके और उसकी पर्याय में आनन्द का अवलोकन का वेदन हो, उसे भगवान संवर कहते हैं। आहा..हा...! कहो, भाई ! साक्षात्कार किया.. समझ में आया ? '**संवर लहि सुख अवलोके...**' इसमें कोई शब्दार्थ नहीं। सुख प्राप्त किया, बस ! इतना ही अर्थ किया है। संवर में आनन्द की अनुभूति होती है-इतना कहा है। संवर में आनन्द की अनुभूति। इसमें क्या किया है ? साक्षात्कार किया है। ठीक किया है। यह पहले रखा। संवर-सुख का साक्षात्कार किया है। अपने लिखा है। उसमें से लिखा है, मूल उसमें से बनाया है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- जोरदार है।

उत्तर :- जोरदार है। ऐसा स्वरूप ही है-ऐसा कहते हैं। जो अनन्तकाल से शुभ-अशुभभाव की भावना भाने से अकेले दु:ख का ही इसने वेदन देखा है। उस शुभ-अशुभभाव की भावना छोड़कर चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा की भावना करने से जो सुख का अवलोकन होने पर, वर्तमान दशा में भी सुख प्रगट होने पर उस सुख का अवलोकन अर्थात् साक्षात्कार करता है। जो सुख शक्ति में पड़ा था.. समझ में आया ? जो सुख शक्ति में था, उसे एकाग्रता करके साक्षात् पर्याय में सुख को प्रगट करता है, उसे संवर कहा जाता है। और वह संवर मुक्ति का उपाय है। ऐसी भावना भाता है। लो ! (विशेष कहेंगे...)

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)